INTRODUCTION

नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला–३४

सैय्यद इंशाअल्लाह खाँ लिखित

रानी केतकी की कहानी

——:o:——

संपादक

श्यामसुंदरदास

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।
मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, नागरी मुद्रण, वाराणसी।
छठाँ संस्करण, २१०० प्र० सं० २०२२ वि०
मूल्य ५० न० पै०।

1925

भूमिका

हिंदी के आधुनिक गद्य साहित्य का इतिहास अभी कोई सवा सौ वर्ष पुराना है। यद्यपि गद्य का आरंभ तो उसी दिन से हो जाता है जिस दिन से मनुष्य बोलने लगता है और यद्यपि साहित्य के कामों के लिये हिंदी गद्य का प्रयोग कई शताब्दी पुराना मिलता है, पर उसको आधुनिक साहित्यिक रूप देने का काम कोई सवा सौ वर्ष पहले फोर्ट विलियम कालेज में किया गया था।

हिंदी साहित्य के निर्माण का काम एक ओर अवधी और दूसरी ओर व्रजभाषा में किया गया। खड़ी बोली तो केवल बोलचाल की भाषा थी। उसमें साहित्यनिर्माण का काम प्राचीन समय में बहुत कम अथवा नाम मात्र को हुआ था। इसलिये प्राचीन गद्य जो कुछ मिलता है, वह विशेषकर व्रजभाषा में ही लिखा मिलता है।

भारतवर्ष का भाषा संबंधी इतिहास बड़ा ही विचित्र और मनोरंजक है। यह कहावत कि इतिहास की उद्धरणी होती रहती है—अर्थात् ऐतिहासिक घटनाएँ समान स्थिति पाकर घूम फिरकर होती रहती हैं—जितनी भारतवर्ष के भाषा संबंधी इतिहास पर चरितार्थ होती है, उतनी दूसरी किसी बात में स्पष्ट नहीं लगती। वैदिक युग की बोल चाल की भाषा को लेकर जब वेदों की रचना हुई, तब मानो वैदिक साहित्य की भाषा की नींव डाली गई। इसी पर साहित्य की भाषा का प्रासाद खड़ा किया गया। समय पाकर इसने संस्कृत का रूप धारण किया। इस प्रकार साहित्य की भाषा अपने ढंग पर विकसित होती चली; पर बोलचाल की भाषा से

इसकी कोई घनिष्ठता न रही। वह साहित्यिक भाषा के निर्माण में सहायक होकर उससे अलग रही, और अपना विकास अपने ढंग पर करती रही। यद्यपि आरंभ में दोनों में विभेद बहुत कम था, पर ज्यों ज्यों समय बीतता गया, दोनों में अंतर और विभेद की मात्रा बढ़ती गई।

पढ़े लिखे या साहित्यसेवी लोग अपना एक अलग समुदाय सा बना लेते हैं और अपनी भाषा को शुद्ध तथा पवित्र रखने का उद्योग करते रहते हैं। जन समुदाय को ऐसी कोई चिंता नहीं होती वे भावप्रदर्शन को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानकर अपना काम करते हैं और भाषा प्राकृतिक नियमों के अनुसार परिवर्तित या विकसित होती रहती है। जब 'शिष्ट' लोगों को जन समुदाय को अपने साथ लेकर चलने की आवश्यकता पड़ती है अथवा जब वे उसकी सहायता या सहयोगिता के लिये उसके मुखापेक्षी होते हैं, तब उन्हें हारकर समझाने बुझाने और उन्हें अपने पक्ष में करने के लिये उनकी 'अशिष्ट', 'अपरिमार्जित', 'असंस्कृत' और 'गँवारू' भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। उनके हाथों में पड़कर यह बोलचाल की भाषा क्रमशः साहित्यिक भाषा का रूप धारण करने लगती है अर्थात् उसमें साहित्य की रचना होने लगती है। इस प्रकार यह नवीन भाषा पुरानी भाषा का स्थान ग्रहण करती जाती है; पर बोलचाल की भाषा अपने ढंग पर चली चलती है। इस प्रकार एक ओर वैदिक बोलचाल की भाषा से पाली, पाली से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं का आविर्भाव हुआ। दूसरी ओर वैदिक भाषा के अनंतर संस्कृत, संस्कृत के अनंतर पाली, पाली के अनंतर प्राकृत, प्राकृत के अनंतर अपभ्रंश और तथा आधुनिक भाषाएँ भारतीय साहित्य के राजसिंहासन पर विराजने की

अधिकारिणी हुई। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है और न जाने कब तक इसकी उद्धरणी होती रहेगी।

हमारे प्रदेश में आधुनिक भाषाओं में पूर्व में अवधी, मध्यदेश में व्रजभाषा और पश्चिम में खड़ी बोली*का प्रचार रहा। पहले तो तीनों ही बोलचाल की भाषाएँ थीं; पर क्रमशः अवधी और व्रजभाषा में साहित्य की रचना होने लगी, खड़ी बोली प्रायः बोलचाल में काम आती रही। अब उसी खड़ी बोली का साहित्य में प्रयोग होने लगा है और अवधी तथा व्रजभाषा का आधिपत्य उस क्षेत्र से क्रमशः कम होता जा रहा है। इस परिवर्तन, इस भाषा संबंधी क्रांति का आरंभ सवा सौ वर्ष पहले हुआ। राजनीतिक क्षेत्र में लोग शांतिमय क्रांति का आदर्श उपस्थित करते हैं, पर इतिहास में उसके उदाहरण नहीं मिलते। हमारे देश के साहित्यिक क्षेत्र में ऐसी शांतिमय क्रांति का प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान है और यह एक बेर नहीं, कई बेर हो चुका है। जब जब साहित्यिक क्षेत्र में कोई भाषा अपनी उन्नति की सीमा को पहुँच गई और उसका जनसाधारण से संबंध नाम मात्र का रह गया, तब तब उसका स्थान बोलचाल की भाषा ने क्रमशः लेना आरंभ कर दिया; और समय पाकर वह उस अधिकार पर पूर्णतया आरूढ़ हो गई। पर जिन्होंने उसे यह राज्याधिकार दिलाया, उनको भूल जाने के कारण उसको उस पद से वंचित होना पड़ा। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है; अभी तक चल रहा है और भविष्य में इसके चलते रहने की पूर्ण संभावना है।

---

*इस शब्द का प्रयोग पहले पहल सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान तथा लल्लूलालजी के प्रेमसागर में मिलता है जो संवत् १८६० में लिखे गए थे।

अस्तु, आधुनिक हिंदी गद्य को साहित्यिक रूप देने अर्थात् गद्य साहित्य में खड़ी बोली का प्रयोग आरंभ करने का श्रेय सैयद इंशाअल्लाह खाँ, सदल मिश्र और लल्लूलालजो को प्राप्त है। इंशाअल्लाह खाँ की मृत्यु संवत् १८७५ में हुई। लल्लूलालजी ने संवत् १८८१ में पेंशन ली और सदल मिश्र संवत् १८८८ के कुछ पहले अपने घर लौट आए थे। जहाँ तक इन तीनों महानुभावों के संबंध में संवतों का पता लगा है, उसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि तीनों प्रायः समकालीन थे और तीनों की रचनाओं के काल में विशेष अंतर नहीं है। लल्लूलालजी और सदल मिश्र ने तो कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज के डाक्टर जान गिलक्रिस्त की तत्वावधानता में ईस्ट इंडिया कंपनी के युरोपियन नौकरों को हिंदी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये गद्य-ग्रंथों की रचना आरंभ की; पर इंशाअल्लाह खाँ को दूसरों के आदेश से अथवा दूसरों की आवश्यकता या अभाव को पूरा करने के लिये यह काम नहीं करना पड़ा। वे अपने ग्रंथ के लिखने का कारण इस प्रकार बताते हैं—"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले; तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे, पुराने धुराने डाँग बूढ़े घाग यह खटराग लाए। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक भौं चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने—यह बात होती दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छांह किसी की न हो, यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंडो साँस की फाँस का टहोका खाकर झुँझलाकर कहा—मैं कुछ ऐसा अनोखा बढ़-बोला नहीं जो राई को परबत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोलकर उँगलियाँ नचाऊँ और बेसिर बेठिकाने की उलझी बातें सुनाऊँ। जो मुझसे न हो सकता तो यह बात मुँह से क्यों निकालता? जिस ढब से होता, इस बखेड़े को टालता।

'इस कहानी का कहनेवाला यहाँ आपको जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेरकर आपको जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव भाव और राव चाव और कूद फाँद, लपट झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, हिरन के रूप में अपनी चौकड़ी भूल जाय।

टुक घोड़े पर चढ़के अपने आता हूँ मैं।
    करतब जो कुछ है कर दिखाता हूँ मैं॥
उस चाहनेवाले ने जो चाहा तो अभी।
    कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं॥

"अब आप कान रख के, आँखें मिला के, सन्मुख होके टुक इधर देखिए; किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल के पंखड़ी जैसे होठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।"

लल्लूलालजी प्रेमसागर की भूमिका में लिखते हैं—'श्रीयुत गुन-गाहक गुनियन-सुखदायक जान गिलक्रिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में श्री लल्लूलालजो कवि ब्राह्मन गुजराती सहस्र-अवदीच आगरेवाले ने जिसका [चतुर्भुजदास कृत भागवत दशम स्कंध का अनुवाद] सार ले, यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नास प्रेमसागर धरा। पर श्रीयुत जान गिलक्रिस्त महाशय के जाने से बना अधबना छपा अधछपा रह गया

था, सो अब श्रीमहाराजेश्वर अति दयाल कृपाल यशस्वी तेजस्वो गिलबर्ट लार्ड मिंटो प्रतापवान् के राज में औ श्रीगुनवान् सुखदान कृपा-निधान भगवान् कपतान जान उलियम टेलर प्रतापी की आज्ञा से और श्रीयुत परम सुजान दयासागर परोपकारी डाक्टर उलियम हंटर नक्षत्रों की सहायता से और श्रीनिपट प्रवीन दयायुत लिपटन अबराहम लाकट रतीवंत के कहे से उसी कवि ने संवत् १८६६ में पूरा कर छपवाया, पाठशाला के विद्यार्थियों के पढ़ने को।"

इसी प्रकार पंडित सदल मिश्र नासिकेतोपाख्यान के अनुवाद के आरंभ में लिखते हैं—"चित्र विचित्र सुंदर सुंदर बड़ी बड़ी अटारिन से इंद्रपुरी समान शोभायमान नगर कलिकत्ता महाप्रतापी वीर नृपति कंपनो महाराज के सदा फूला फूला रहे, कि जहाँ उत्तम उत्तम लोग बसते हैं औ देश देश के एक से एक गुणी जन आय आय अपने अपने गुण को सुफल करि बहुत आनंद में मगन होते हैं। नाम सुन सदल मिश्र पंडित भी वहाँ आन पहुँचा; वो बड़ी बड़ाई सुनि सर्व विद्या निधान ज्ञानवान् महाप्रधान श्री महाराज जान गिलक्रिस्त साहब से मिला कि जो पाठशाला के आचार्य हैं। तिनको आज्ञा पाय दो एक ग्रंथ संस्कृत से भाषा वो भाषा से संस्कृत किए। अब संवत् १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि जिसमें चंद्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिये खड़ी बोली में किया।"

इस प्रकार हिंदी गद्य में इन तीनों ग्रंथों की रचना हुई। इंशाअल्लाह खाँ ने कुतूहलवश तथा अपनी विद्वत्ता और काव्य-कुशलता की उमंग में आकर लल्लूलालजी ने अपने स्वामी की आज्ञा के वशीभूत होकर तथा सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम के आचार्य जान गिलक्रिस्त के कहने पर अपने ग्रंथों की रचना की। कुछ लोग लाला सदासुखलाल को भी, जिनका जन्म संवत् १८०३

में और मृत्यु संवत् १८८१ में हुई, हिंदी गद्य के आरंभिक आचार्यों में गिनते हैं। इनके हिंदी गद्य में लिखे कई स्फुट लेख बतलाए जाते हैं और एक छप भी गया है। पर ऐसा जान पड़ता है कि इन्होंने लेखों के अतिरिक्त कोई ग्रंथ नहीं रचा और लेख भी किसी क्रम से नहीं लिखे गए। भक्तिभाव से प्रेरित हो जब जैसी उमंग आई, कुछ लिख डाला। इनके सब लेखों का संग्रह अभी प्रकाशित भी नहीं हुआ है। इस अवस्था में मैं हिंदी गद्य के आरंभिक आचार्यों की त्रिमूर्ति में इन्हें स्थान देने के लिये उद्यत नहीं हूँ।

सैय्यद इंशाअल्लाह खाँ के पूर्वज समरकंद के एक प्रतिष्ठित वंश के थे। ये लोग पहले काश्मीर में आकर रहे और फिर वहाँ से दिल्ली आए। यहाँ शाही दरबार में इन लोगों का अच्छा मान हुआ। इंशाअल्लाह खाँ के पिता माशाअल्लाह खाँ अच्छे कवि और हकीम थे। यथासमय वे भी अपने पूर्व पुरुषों की भाँति तत्कालीन बादशाह के दरबार में हकीम नियत हुए। पर उस समय चगत्ताई वंश की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। अतएव माशाअल्लाह खाँ ने दिल्ली छोड़कर मुर्शिदाबाद जा बसने की ठानी। वहाँ के नवाब के यहाँ इनका अच्छा आदर हुआ। नवाब सिराजुद्दौला का नाम इतिहास प्रसिद्ध है। यही इस समय बंगाल के अधिकारी थे। इनके दरबार में विद्वानों और गुणीजनों का अच्छा आदर होता था। माशाअल्लाह खाँ मुर्शिदाबाद में बस गए और आनंद से अपने दिन बिताने लगे। यहीं इनके पुत्र इंशाअल्लाह खाँ का जन्म हुआ। बालक इंशाअल्लाह का स्वभाव चंचल और बुद्धि तीव्र थी। पिता से शिक्षा पाकर वे छोटी उमर में ही कविता करने लग गए थे। जब बंगाल में राजनीतिक अवस्था चिंताजनक हुई, तब सैयद इंशाअल्लाह खाँ मुर्शिदाबाद से दिल्ली चले आए। उस समय दिल्ली के राजसिंहासन पर शाह आलम विराजते थे। यद्यपि ये

धनशून्य और शक्तिहीन थे, केवल नाम के बादशाह रह गये थे, तथापि इनको काव्य से प्रेम था। वे स्वयं कविता करते और गुणी कवियों का आदर भी करते थे। उन्होंने इंशाअल्लाह खाँ को अपने दरबार में रख लिया। इंशाअल्लाह खाँ बड़े विनोदप्रिय थे। वे केवल कविता ही नहीं करते थे, बल्कि समय समय पर विनोदमय कहानियाँ भी रचकर दरबार में सुनाया करते थे जिससे उनकी बहुत कुछ पूछ रहती और मान मर्यादा भी कम न थी। पर यह सब मान मर्यादा थोथी थी। दिल्लीपति शाह आलम धनहीन होने के कारण इनकी यथेष्ट आर्थिक सहायता नहीं कर सकते थे, इसलिये इन्हें प्रायः अर्थकष्ट बना रहता था। निदान इन्हें अपने कष्टों की निवृत्ति के लिये किसी दूसरे दरबार का आश्रय लेने की आवश्यकता हुई। उस समय अवध के नवाब आसफुद्दौला के दान और उदारता की चर्चा चारों ओर फैल रही थी। "जिसको न दे मौला, उसे दे आसफुद्दौला" तक लोग प्रायः कहा करते थे। सैयद साहब ने भी उसी दरबार का आश्रय लेने का निश्चय किया। वे लखनऊ आए और नवाब साहब की सेवा में उपस्थित हुए। क्रमशः इनका मान बढ़ने लगा। कुछ समय के अनंतर एक दिन यों ही हँसीहँसी में इनमें और नवाब सआदत्त अली खाँ में कुछ मनमुटाव हो गया। तब से ये दरबार छोड़ एकांतवास करने लगे। सात वर्ष एकांतवास में बिता संवत् १८७५ में ये स्वर्ग सिधारे।

सैय्यद इंशाअल्लाह खाँ फारसी और अरबी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। आपने उर्दू में भी कविता की है। प्रांतीय बोलियों से भी आप भलीभाँति परिचित थे और कभी कभी उसका प्रयोग भी कर लेते थे; जैसे—"झाऊ मियाँ के भूईं पै पटकिस घुमाय के।" जिस समय सैय्यद साहब लखनऊ में थे, उस समय आपने रानी केतकी की कहानी लिखी। ऐसा अनुमान होता है कि यह कहानी संवत् १८५६ और १८६५ के बीच में लिखी गई होगी। इस कहानी के लिखने का उद्देश्य तो यह था कि एक ऐसी रचना की जाय जिसमें 'हिंदी को छुट और किसी बोली की पुट न मिले' और हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।' इस उद्देश्य से प्रेरित हो सैयद इंशाअल्लाह खाँ ने इस कहानी की रचना की और उसमें उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पहली बात तो यह कि कहानी मौलिक है; किसी की छाया नहीं है और न किसी आधार पर लिखी गई है। कहने का ढंग भी चित्ताकर्षक और मनोहर है। उसमें जहाँ तहाँ कविता भी दी गई है, पर वह उच्च कोटि की नहीं। सबसे बढ़कर बात जो उस कहानी में है, वह उसकी भाषा है। एक तो अरबी, फारसी और उर्दू के विद्वान् होने पर भी आपने ठेठ हिंदी में रचना की जो आपकी कुशलता प्रमाणित करती है। दूसरे इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अब तक हिंदी गद्य का कोई स्वरूप निश्चत नहीं हुआ था। लल्लूलालजी, सदल मिश्र और इंशाअल्लाह खाँ ये इसके प्रथम आचार्य, इसके स्वरूप की नींव रखनेवाले तथा हिंदी साहित्य के लिये एक नए पथ के प्रदर्शक हुए हैं। तीनों महानुभाव समकालीन थे और तीनों की रचनाएँ लगभग एक ही समय में हुईं। पर लल्लूलाल जी के लिये चतुर्भुजदास का भागवत् और सदल मिश्र के लिये संस्कृत का नासिकेतोपाख्यान उपस्थित था, इंशाअल्लाह खाँ के लिये ऐसा कोई आधार न था। लल्लूलालजी की भाषा अपनी 'अनस्थिरता' का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रही है। न शब्दों का रूप ही निश्चित है और न व्याकरण संबंधी नियमों का निर्धारण होकर प्रयोगों में स्थिरता ही आई है। तुकबंदी, अनुप्रास और कवितामय भाषा उनकी विशेषताएँ हैं। सदल मिश्र की भाषा लल्लूलालजी की भाषा से

अधिक पुष्ट और परिमार्जित है। स्वभावतः इसे लल्लूलालजी की रचना के पीछे की होना चाहिए था। यदि लल्लूलालजी के प्रेमसागर रचने का समय तथा सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान के निर्माण का समय न दिया होता और केवल दोनों की भाषा को ही आधार मानकर उनके रचनाकाल का निश्चय करना होता तो इस परीक्षा में लल्लूलालजी पहले के और सदल मिश्र पीछे के माने जाते। पर वास्तव में दोनों समकालीन थे और दोनों के ग्रंथ भी लगभग एक ही समय में रचे गए थे। लल्लूलालजी का प्रेमसागर संवत् १८६६ में पूरा होकर प्रकाशित हुआ, यद्यपि उसका बनना संवत् १८६० में आरंभ हो गया था। सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान संवत् १८६० में बना। सारांश यह कि दोनों के ग्रंथ एक ही समय में बने, दोनों ने एक ही स्थान में नौकरी करके यह काम किया फिर भी एक की भाषा में प्रौढ़ता है, दूसरे की में अनस्थिरता है। अवश्य ही इसका कोई कारण होना चाहिए। मेरी समझ में लल्लूलालजी कोई बड़े विद्वान् नहीं थे। उन्होंने चतुर्भुजदास का अनुकरण बहुत अधिक किया और वे उनकी भाषा के प्रभाव में बेतरह बह गए हैं। सदल मिश्र पंडित थे और उन्होंने अपनी शक्ति पर भरोसा करके रचना की। इस दृष्टि से सदल मिश्र का आसन लल्लूलालजी से ऊँचा है।

इंशाअल्लाह खाँ का ढंग निराला है। यद्यपि उन्होंने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो, पर वे कहाँ तक इसको पूरा करने में सफल हो सके हैं, यह विचारणीय है। इसको निर्णय 'हिंदवीपन' और 'भाखापन' इन दो शब्दों के अर्थों पर निर्भर करता है। अवश्य ही ये दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। मेरा अनुमान है कि 'हिंदवीपन' से सैय्यद साहब का तात्पर्य यही था कि हिंदी के शब्दों का ही प्रयोग हो

फारसी और अरबी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों की मिलावट न हो। 'भाखापन' से उनका अर्थ यही हो सकता है कि प्रांतीय बोलियों जैसे व्रजभाषा या अवधी आदि के व्याकरण का अनुकरण न किया जाय। खड़ी बोली में अभी तक गद्य की रचना आरंभ नहीं हुई थी। संभव है कि लल्लूलालजी और सदल मिश्र की रचनाओं का सैय्यद साहब को अभी तक पता भी न चला हो। अतएव सैय्यद साहब ने अपनी रचना के लिये जो दो प्रतिबंध स्वयं अपने ऊपर आरोपित कर लिए थे, उनका यही भाव था कि विदेशी शब्दों का प्रयोग न हो और वाक्यों की रचना वैसी हो जिसे हम लोग उर्दूपन कहते हैं।

यद्यपि उर्दू की जननी हिंदी की उपभाषा खड़ी बोली है, पर बहुत अंशों में अब यह दिनोंदिन स्वतंत्र होती जा रही है। उर्दू की उत्पत्ति का मुख्य कारण राजनीतिक स्थिति है। इसका आकार प्रकार तो आरंभ में सर्वथा खड़ी बोली का था अर्थात् उर्दू का व्याकरण खड़ी बोली के अनुसार था और उसी के नियमों का अनुशासन माना जाता था, पर शब्दों के लिये कोई प्रतिबंध नहीं था। हिंदी, तुर्की, अरबी, फारसी सब भाषाओं के शब्द जो साधारणतः समझ में आ सकते थे, प्रचुरता से प्रयुक्त होते थे। राजाश्रय पाकर इस भाषा ने क्रमशः उन्नति की और मुसलमानों से पाली पोसी जाकर तथा उनके आदर और स्नेह का भाजन होकर इसने उनका अनुसरण करने में ही अपने जीवन का साफल्य समझा। क्रमशः फारसी प्रयोगों का इसमें प्रवेश होने लगा और इस उपाय से यह अपना व्यक्तित्व स्वतंत्र करने के उद्योग में लगी। इस समय हिंदी और उर्दू का विभेद इन चार बातों में स्पष्ट देख पड़ता है।

(१) उर्दू में अरबी फारसी के शब्दों का तत्सम रूप में अधिकता से प्रयोग।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का बढ़ता हुआ प्रभाव, जैसे बहुवचन का रूप प्रायः फारसी के अनुसार होता है।

(३) संबंध, करण, अपादान और अधिकरण कारकों की विभक्तियाँ हिंदी के अनुसार न होकर फारसी के शब्दों या चिह्नों द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं।

(४) वाक्यविन्यास का ढंग उलटा हो रहा है। हिंदी में पहले कर्ता, तब कर्म और अंत में क्रिया होती है; पर उर्दू में इस क्रम में उलट फेर होता है।

इस आधुनिक अवस्था को जब हम इंशाअल्लाह खाँ की रचना से मिलाते हैं, तो हमें यह विदित होता है कि इस पृथकता का सूत्रपात उसी समय हो गया था, यद्यपि उसने इतनी स्पष्टता नहीं धारण की थी। पर जिन चार विभेदसूचक बातों का उल्लेख किया गया है, उनमें से पहली तीन बातें तो इंशाअल्लाह खाँ की कृति में नहीं मिलतीं, पर चौथी का आरंभ स्पष्ट देख पड़ता है। अतएव हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि इंशाअल्लाह खाँ की भाषा शैली उर्दू ढंग की है। पर साथ ही हमें यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं है कि लल्लूलालजी तथा सदल मिश्र की अपेक्षा इनकी भाषा शैली मनोहर है। हिंदी और उर्दू के गद्य में वैसा ही अंतर है, जैसा एक प्रौढ़ा स्त्री तथा एक रूपगर्विता नवयौवना में होता है। हिंदी में वह चपलता, चंचलता, इतराना, इठलाना नहीं देख पड़ता जो उर्दू में देख पड़ता है। मुसलमानी दरबार का आश्रय पा और अपने उपासकों का स्नेहभाजन हो उर्दू का ऐसा न करना आश्चर्य की बात होती। भाषा मनुष्य की अंतरात्मा का वाह्य रूप है। जैसे मन में भाव होते हैं, जैसी अंतरात्मा की स्थिति होती है, वैसी ही भाषा भी होती है। इसलिये यदि हम उर्दू गद्य में उस चंचलता के लक्षण पाते हैं जो मुसलमानी दरबार में आने जानेवाली मुसलमान कामिनियों के लिये आवश्यक और अनिवार्य थे, तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। सैय्यद इंशाअल्लाह खाँ की भाषा शैली भी उर्दू गद्य के सवा सौ वर्ष पुराने रूप का एक बहुत अच्छा उदाहरण है। यद्यपि अधिकांश शब्द ठेठ हिंदी के हैं, पर उर्दू मुहावरों का प्रयोग अधिकता से हुआ है; और तुकबंदियों ने तो सैय्यद साहब को वेतरह घेर रखा है। सारांश यह कि सैय्यद इंशाअल्लाह खाँ की कृति हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के पृष्ठपोषकों के लिये समान आदर की वस्तु है और हिंदी गद्य की विकासलड़ी की एक सुंदर और चमकती हुई कड़ी है।

इंशाअल्लाह खाँ की भाषा में एक विशेषता है जिसे जान लेना आवश्यक है। आधुनिक हिंदी और उर्दू में कृदंत क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है, पर उनमें वचनसूचक चिह्न नहीं रहते। पुरानी उर्दू में यह बात नहीं थी। उसमें वचनसूचक चिह्नों का भी प्रयोग होता था। इंशाअल्लाह खाँ ने भी ऐसे ही प्रयोग किए हैं; जैसे 'आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं', घरवालियाँ बहलातियाँ हैं' इत्यादि। मेरी समझ में यह प्रभाव पंजाबी भाषा के कारण पड़ा है जिसमें अब तक ऐसे प्रयोग होते हैं।

सैय्यद इंशाअल्लाह खाँ की कहानी को पहले पहल राजा शिवप्रसाद ने अपने गुटके के तीसरे भाग में छापा था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इसका कोई स्वतंत्र संस्करण अब तक प्रकाशित नहीं हुआ। जब मैं लखनऊ में था, तब मुझे इसकी एक हस्तलिखित प्रति तथा फारसी अक्षरों में छपी हुई एक प्रति प्राप्त हुई थी। उन्हीं दोनों प्रतियों के आधार पर मैंने इसका संपादन उसी समय कर

लिया था। मैं इस खोज में था कि सैय्यद इंशाअल्लाह खाँ की अन्य हिंदी कृतियों का पता चल जाता तो सबको एक साथ ही प्रकाशित करवाता; पर इस संबंध का सब उद्योग निष्फल हुआ। अतएव अब केवल इस एक ही पुस्तक को प्रकाशित करने का साहस करता हूँ।

श्यामसुंदरदास

काशी
४ जून १९२५

रानी केतकी की कहानी

——:०:——

यह वह कहानी है कि जिसमें हिंदी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट॥

सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सब को बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं, उसके बिन ध्यान यह सब फाँसें हैं। यह कल का पुतला जो अपने उस खेलाड़ी की सुध रक्खे तो खटाई में क्यों पड़े और कड़वा कसैला क्यों हो। उस फल की मिठाई चक्खे जो बड़े से बड़े अगलों ने चक्खी है।

देखने को दो आँखें दीं और सुनने को दो कान।
नाक भी सब में ऊँची कर दी मरतों को जी दान॥

मिट्टी के बासन को इतनी सकत कहाँ जो अपने कुम्हार के करतब कुछ ताड़ सके। सच है, जो बनाया हुआ हो, सो अपने बनानेवाले को क्या सराहे और क्या कहे। यों जिसका जी चाहे, पड़ा बके। सिर से लगा पाँव तक जितने रोंगटे हैं, जो सबके सब बोल उठें और सराहा करें और उतने बरसों उसी ध्यान में रहें जितनी सारी नदियों में रेत और फूल फलियाँ खेत में हैं, तो भी कुछ न हो सके, कराहा करें। इस सिर झुकाने के साथ ही दिन